साहित्य की बहुजन अवधारणा और सत्ता

Pramod Ranjan

▶ To cite this version:

Pramod Ranjan. साहित्य की बहुजन अवधारणा और सत्ता. बया [baya], 2024, 19 (50), pp.177-179. ⟨10.31219/osf.io/xayhs⟩. ⟨hal-04564818⟩

HAL Id: hal-04564818

https://hal.science/hal-04564818

Submitted on 30 Apr 2024

HAL is a multi-disciplinary open access archive for the deposit and dissemination of scientific research documents, whether they are published or not. The documents may come from teaching and research institutions in France or abroad, or from public or private research centers.

L'archive ouverte pluridisciplinaire **HAL**, est destinée au dépôt et à la diffusion de documents scientifiques de niveau recherche, publiés ou non, émanant des établissements d'enseignement et de recherche français ou étrangers, des laboratoires publics ou privés.

Distributed under a Creative Commons Attribution - NonCommercial 4.0 International License

ISSN 2321-9858

साहित्य, संस्कृति और विचार का त्रैमासिक

बया

जनवरी-मार्च, 2024
मूल्य : 200 रुपए

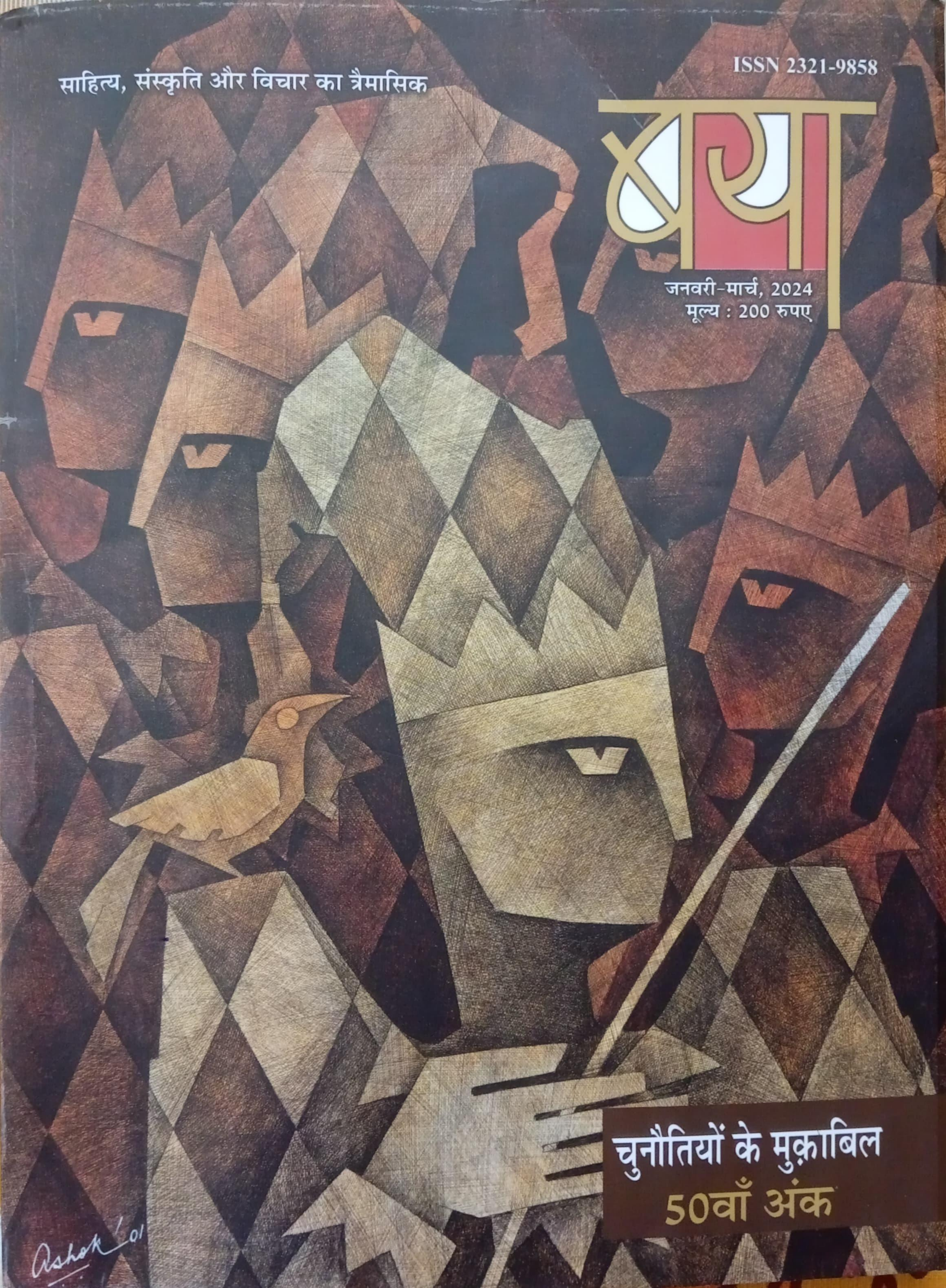

चुनौतियों के मुक़ाबिल
50वाँ अंक

बया

साहित्य, संस्कृति और विचार का त्रैमासिक

पूर्णांक : 50 वर्ष : 19 जनवरी-मार्च, 2024

चुनौतियों के मुक़ाबिल

इतिहास

8.
इतिहास पर सीधा हमला
इरफ़ान हबीब

10.
'हम लड़कर साम्प्रदायिकता को हरा सकते हैं'
आदित्य मुखर्जी/मृदुला मुखर्जी

21.
देशभक्ति बनाम अन्धराष्ट्रीयता
रामचन्द्र गुहा

26.
क्रांतिकारी इतिहास लेखन अब अधिक चुनौतीपूर्ण है
सुधीर विद्यार्थी

समाज विज्ञान/राजनीति

29.
उत्तराखंड को मुस्लिम विहीन करने का अभियान
हर्ष मंदर

37.
कॉर्पोरेट के बढ़ते दबाव में कामगारों की चुनौतियाँ
हेमन्त कुमार झा

41.
हममें से हिंसक कौन नहीं है?
सुभाष गाताडे

45.
सत्तावाद का भारतीय मनोविज्ञान
नारायण सिंह

52.
कॉर्पोरेट सोशियोलॉजी का अंधकार
त्रिभुवन

57.
समाजविज्ञान की भाषा, सरकार और जनता
रमाशंकर सिंह

60.
कश्मीर : इस्लामी आतंकवाद से हिंदू फ़ासीवाद तक
निदा नवाज़

63.
भारतीय नौकरशाही में बढ़ते राजनीतिक हस्तक्षेप
नरेश चंद्र सक्सेना

सा
रे
गा
मा

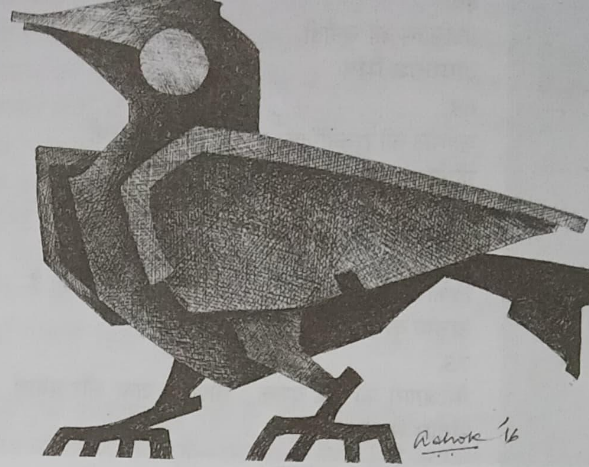

■ बया की पाती

चुनौतियों के मुक़ाबिल

आज स्थिति इस हद तक ख़राब हो गई है कि इतिहास और विज्ञान को झुठलाए जाने और न्याय की परिभाषा बदल दिए जाने जैसे संकटों के सामने खड़े होकर भी हमें खुलकर बात करने में असुविधा महसूस हो रही है। प्रतिकार में बोलते या लिखते हुए हमेशा किसी निगरानी में होने का एक अदृश्य दबाव ज़ेहन में रहता है। औपनिवेशिक शासन काल में अंग्रेज़ों ने हम पर बहुत ज़ुल्म ढाए थे और हमारी स्वतंत्रता सीमित कर दी गई थी लेकिन अवैज्ञानिकता और छुआछूत के दलदल से कुछ हद तक निजात दिलाने का भी प्रयास हुआ था। आज भी लिखने-बोलने की स्वतंत्रता कदाचित उस समय से ज़्यादा नहीं है। तब पूरे देश को कम-से-कम यह पता था कि हम गुलामी में हैं। आज तो हालात इतने बिगड़ गए हैं कि पढ़े-लिखे लोगों को भी न तो ख़ुद के ऊपर हो रहे जुल्म समझ में आ रहे हैं, न स्वतंत्रता छीने जाने की अनुभूति और न देश की सकल पूँजी का अबाध प्रवाह गिने-चुने कॉर्पोरेट घराने की तिजोड़ी में होने को लेकर उन्हें ज़रा भी लुटे जाने का अहसास हो रहा है। ग़रीब और ग़रीब हो रहे, अमीर और अमीर, बाक़ी राम नाम जप रहे हैं। औपनिवेशिक गुलामी के काल में यहाँ के लोगों की तरफ़ से विरोध के स्वर लगातार उठते थे—1857 के विद्रोह से भी पहले के छिटपुट विरोधों से लेकर आख़िर में 1946 के नाविक विद्रोह तक जन-प्रतिरोध कभी ख़त्म नहीं हुआ था। आज खुले तौर पर हमें हज़ारों साल पीछे ढकेलने वाले सोच का गुलाम बनाया जा रहा है और यह गुलामी ज़्यादा बड़ी और जटिल है। लेकिन आज विरोध के स्वर अपेक्षाकृत ज़्यादा कमज़ोर और बिखरे हुए नज़र आ रहे हैं। वरना क्या यह संभव था कि सौ साल से होते आ रहे विज्ञान-कांग्रेस के आयोजन से सरकार हाथ खींच ले और कहीं से विरोध की बात तो दूर, ढंग से मीडिया में इस ख़बर को जगह भी न मिले? 10वीं के पाठ्यक्रम से तत्वों के नाम-गुण, सूर्योदय और सूर्यास्त के समय के रंग-परिवर्तन आदि सहित कई ऐसे पाठ हटा दिए गए जिनसे विद्यार्थी को अवैज्ञानिक मान्यताओं से स्वस्थ्य-मुक्ति संभव थी। ऐसा साजिशन इसलिए किया गया ताकि लोग 'पंचतत्व' और 'सूर्य-भगवान' के सोच में ही अटके और अंधविश्वास से जकड़े रहें। सरकार की यह मंशा

साहित्य की बहुजन अवधारणा और सत्ता

प्रमोद रंजन

बहुजन विचार और अवधारणा के महत्त्वपूर्ण लेखक

अगर हम इस प्रश्न पर विचार करें कि साहित्य में कौन-सी अवधारणाएँ पुरानी पड़ रही हैं और कौन-सी नई अवधाराणाएँ आकार ले रही हैं तो हम 'बहुजन' अवधारणा को अंकुरित होते महसूस करते हैं। इस अवधारणा के अंकुरित होने का मुख्य कारण सत्ता का वह स्वरूप है, जो भारत की बहुजन आबादी को खंड-खंड में बाँट कर अभिजनों का वर्चस्व कायम करना चाहता है। बहुजन अवधारणा नई नहीं है, अपितु एक प्रकार से यह इसका पुनर्जागरण है। यह अवधारणा अपने नए रूप में मौजूदा सत्ता के अतिरिक्त, तकनीक आधारित वर्चस्ववाद और बाज़ार से मिलने वाली नई चुनौतियों से टकराने में भी सक्षम प्रतीत होती है।

बहुजन साहित्य की सुगबुहाट

पिछले कुछ समय से भारत के विभिन्न हिस्सों में साहित्य पर केंद्रित ऐसे कार्यक्रम होने लगे हैं, जिनमें किसी-न-किसी रूप में 'बहुजन साहित्य' शब्द-बंध का प्रयोग किया जा रहा है। सन् 2017 में जयपुर में 'बहुजन साहित्य महोत्सव' मनाया गया, जिसमें 'समकालीन साहित्य में बहुजन चेतना' पर विस्तार से चर्चा हुई। सन् 2018 में जवाहर लाल नेहरू यूनिवर्सिटी में 'बहुजन साहित्य संघ' की स्थापना की गई और 'बहुजन साहित्य की अवधारणा और सौन्दर्यबोध' समेत बहुजन साहित्य से संबंधित अन्य कार्यक्रम हुए। हाल ही में बने 'जन लेखक संघ' के तत्वावधान में 5 जून, 2022 को बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी में 'बहुजन साहित्य : दशा और दिशा' विषय पर गोष्ठी हुई, जिसमें कई हिंदी-भाषी राज्यों के लेखकों ने भाग लिया। ऐसे दर्जनों कार्यक्रम हो रहे हैं, जिनमें बड़ी संख्या में लोग भागीदारी कर रहे हैं। इन कार्यक्रमों को गूगल अथवा फ़ेसबुक के सर्च इंजन में आसानी से तालाशा जा सकता है। हिंदी के अतिरिक्त मराठी, गुजराती और तमिल में भी बहुजन साहित्य पर केंद्रित आयोजनों के होने की सूचनाएँ मिल रही हैं। तेलांगना में बहुजन साहित्य अकादमी सक्रिय है, जिसका एक बड़ा आयोजन पिछले दिनों दिल्ली में हुआ था।[1] केरल में भी बहुजन साहित्य अकादमी स्थापित हुई है।[2]

समाज, संस्कृति, साहित्य को देखने का यह नया नज़रिया क्यों विकसित हो रहा है? ये आयोजन दलित, आदिवासी, मध्यवर्ती समुदायों; जिन्हें भारतीय संविधान में ओबीसी कहा गया है; तथा हमारे विमर्श के दायरे से अलक्षित रहे अन्य सामाजिक समूहों (पसमांदा, घुमंतू आदि) की संस्कृति और साहित्यिक अभिव्यक्तियों में व्यक्त मूल्यों के साझेपन को अपने-अपने तरीक़े से चिह्नित कर रहे हैं। साथ ही इनमें सामाजिक स्तर पर द्विजवाद से संघर्ष के मुद्दों के साझेपन की तलाश की जा रही है। ये आयोजन अपनी साझा राजनीति की तलाश भी बहुत बैचैनी से करते दिखाई देते हैं। इन आयोजनों के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण यह भी है कि इनके पीछे कोई सुव्यवस्थित संगठन नहीं है, बल्कि यह स्वयमेव हो रहा है।

हालाँकि अभी तक इसके तहत मुख्य रूप से भारतीय समाज के विभिन्न वंचित-शोषित सामाजिक तबकों और प्रगतिशील लोगों की एकता और मुद्दों के साझेपन की बातें ही की जा रही हैं।

पुरानी और नई समस्याएँ

60 के दशक के नई कहानी और नई कविता आंदोलन के बाद हिंदी साहित्य की मुख्यधारा को दिशा देने वाली कोई स्पष्ट, सुचिंतित वैचारिकी नहीं रही है। इस बीच आधी सदी से अधिक का समय बीत चुका है। 1980 के इर्द-गिर्द दलित और स्त्री साहित्य की अवधारणा व्यापक चर्चा के दायरे में आई। इस घटना को भी 40 साल से अधिक समय हो चुका है। इस बीच इतने बदलाव हुए हैं कि इस अवधि को एक नए भूवैज्ञानिक युग—एंथ्रोपोसीन—के नाम से जाना जाने लगा है।[3] लेकिन, हिंदी साहित्य की वैचारिकी इन परिवर्तनों को आत्मसात करने में पिछड़ गई है।

हिंदी साहित्य की जनवादी-प्रगतिशील और दलित-स्त्री धारा ने भारतीय साहित्य की रीति-नीति को बदलने में क्रान्तिकारी भूमिका निभाई। लेकिन आज ये अवधारणाएँ असफल होती दिख रही हैं।

प्रगतिशील साहित्य आन्दोलन भारतीय समाज की जाति-आधारित संरचना पर उस प्रकार चोट करने में असफल रहा, जिस प्रकार उसके बाद आए दलित साहित्य ने की। भारतीय जाति-व्यवस्था में पिस रहे लोगों की अकांक्षाओं को नहीं समझ पाना और उसे तेवर के साथ अभिव्यक्त न कर पाना, प्रगतिशील साहित्य की मुख्य कमजोरी रही।

दलित साहित्य की अवधारणा के तहत जो लेखन हुआ उसका केंद्रबिंदु अस्पृश्यता के दंश की अभिव्यक्ति और उसका मुखर विरोध रहा। ये दोनों बहुत आवश्यक कार्यभार था, जिनमें दलित साहित्य दृढ संकल्प होकर न सिर्फ़ लगा रहा, बल्कि इसे सफलतापूर्वक पूरा भी किया। लेकिन, अनेक कारणों से यह धारा उत्तरोत्तर संकीर्ण होती गई। दलित साहित्य की मूल चिंता अस्पृश्यता थी, इसलिए उसने इसी पर सघनता से चोट की। निरंतर संकुचन के कारण यह अवधारणा जाति-व्यवस्था से उपजे अन्य कष्टकारी स्वरूपों को अपने दायरे में लेने में विफल रही, जिससे देश के अन्य वंचित तबके—मसलन आदिवासी, घूमंतु जातियाँ, अन्य धर्मों के पसमांदा व अति पिछड़े वर्ग प्रभावित हैं। इसके अतिरिक्त, इन अवधारणाओं ने विज्ञान और तकनीक के अप्रतिम फैलाव पर आलोचनात्मक नज़र रखने वाली दृष्टि भी विकसित नहीं की। उनका चश्मा तकनीक के इस अप्रतिम फैलाव से पहले का है और बहुत तेज़ी से बदल रही दुनिया को देखने में सक्षम नहीं है।

संक्षेप में कहें तो, वाम और दलित शक्तियाँ भारतीय और वैश्विक यथार्थ की अपनी पुरानी, एकांगी समझ के कारण कमज़ोर हुईं। इन शक्तियों के प्रभाव में सृजित साहित्य और आलोचना में नया वैचारिक आलोड़न पैदा करने की क्षमता अब नहीं है।

आज हम एक समय में रहना शुरू कर चुके हैं जब मशीनें चित्र बनाने, नया संगीत बनाने से लेकर कविता, कहानी, उपन्यास तक लिखने में सक्षम हैं। जाहिर है न हमारे साहित्य का स्वरूप पहले जैसा रहेगा, न ही समाज यथावत् रहेगा। मशीनें एक नई कहानी पलक झपकते लिख सकती हैं। कविताएँ लिख सकती हैं। उपन्यास लिख सकती हैं। स्पष्ट है कवियों-कथाकारों द्वारा सृजित किए जाने वाले मौजूदा स्वरूप और कंटेंट वाले रचानात्मक साहित्य की उपयोगिता कम होती जाएगी। संभवत: गद्य साहित्य की स्वतंत्र सत्ता समाप्त हो जाएगी और वह दृश्य-श्रव्य माध्यमों की पृष्ठभूमि में स्थानांतरित हो जाएगा। शायद 'सृजनात्मक वैचारिक गद्य' का मोल बढ़ेगा और दृश्य-श्रव्य माध्यमों में अनछुई रह जाने वाली संवेदनाओं को छूने वाली, गहन जीवन-सत्य को उद्घाटित करने वाली कविताओं की उपयोगिता बढ़ेगी। वास्तव में परिवर्तन की एक ऐसी अतिद्रुत और भीषण आंधी शुरू हो गई है, जिसे मानव जाति अपने मौजूदा अंतर्विरोधों के रहते रोक नहीं पाएगी और इस आंधी के बीच किसी भी दिशा का ठीक अनुमान लगाना असंभव है। ...तकनीक पर राज करने वाले ये कॉरपोशन दुनिया की अधिकांश आबादी के मस्तिक पर क़ब्ज़ा करने की क्षमता रखते हैं और ऐसा लग रहा है कि वे विश्व के किसी भी राष्ट्र-राज्य से अधिक शक्तिशाली हो चुके हैं।

इस दौर में एक ओर मनुष्य और मशीन के बीच टकराहट की आशंका है तो दूसरी ओर मनुष्य और मशीन के सहअस्तित्व की संभावनाएँ भी हैं। औद्योगिक क्रांति के समय मशीनें मनुष्य के शारीरिक श्रम में सहयोगी के रूप में सामने आई थीं, अब वे हमारी बौद्धिक और रचनाशील सहकर्मी की भूमिका में आने को आतुर हैं।

इस बीच हम देख रहे हैं कि मानवीय विचार और दर्शन दायरा मनुष्योन्मुखी संकीर्णता का त्याग कर समस्त जीव-जंतुओं, वनस्पतियों और समस्त सृष्टि तक फैल रहा है। पश्चिम में इन पर एंथ्रोपोसीन और उत्तरमानववाद, मानवेत्तरवाद जैसी विचार-सरणियों के तहत जोरशोर से विमर्श हो रहा है।

इन चीज़ों का विश्लेषण; प्रतिरोध और जो उचित है, उसका समर्थन करने का उपकरण दलित, स्त्री और जनवादी अवधारणाओं के पास नहीं हैं। उनके उपकरण यह चिह्नित करने के लिए नहीं बने हैं कि विज्ञान और तकनीक किस सीमा पर पहुँच कर निरपेक्ष नहीं रह जाते। प्रगतिशील आंदोलन अब भी अपना पुराना परचम लहराते हुए पूँजीवाद का पुराने पड़ चुके तरीक़ों से विरोध करने में जुटा है, जबकि दलित अवधारणा विज्ञान और तकनीक का इस प्रकार जयघोष करने में लगी है, मानो ब्राह्मणवादियों ने विज्ञान और तकनीक के विकास और उसकी उपलब्धता को रोक रखा हो, और यह रोक हटते ही अधिकांश समस्याओं का हल हो जाएगा।

जबकि हमारा युवा पाठक आज आधिकांश मायनों में अपने लेखकों से बहुत आगे है। लोकायतिक दार्शनिक, बुद्ध, कबीर, फुले से लेकर पेरियार तक अपने समय के विज्ञान और तकनीक पर पैनी नज़र रखते हैं। इनसे प्रेरणा लेने वाली बहुजन अवधारणा स्वभाविक तौर पर इन चीज़ों को नए सिरे से देखेगी।

बहुजन साहित्य का इतिहास

साहित्य में बहुजन अवधारणा को प्रबल बनाने की कोशिशों का इतिहास लम्बा है। इसके नामाकरण में बुद्ध की उक्ति 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' की दार्शनिक प्रेरणा है। हिंदी में भिक्खु बोधानंद (1874-1952), स्वामी अछूतानंद (1879-1933), चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु (1885-1974) आदि ने इस अवधारणा को लेकर विपुल लेखन किया। इन लोगों ने इस अवधारणा के प्रसार के लिए प्रकाशन गृह चलाये तथा अनेकानेक पुस्तकें प्रकाशित कीं, सैकड़ों सभाएँ और गोष्ठियाँ कीं। उत्तर भारत में त्रिवेणी संघ, (1930 के आसपास निर्मित) अर्जक संघ (1968 में स्थापित) जैसे अनेक मज़बूत सामाजिक-राजनीतिक संगठन भी इस विचारधारा को केंद्र में रखकर ही सक्रिय रहे।

महाराष्ट्र में जोतीराव फुले (1827-1890) ने भी जो आन्दोलन खड़ा किया, वह दलित या पिछड़ा आन्दोलन नहीं था, बल्कि बहुजन आन्दोलन ही था। उन्होंने 'शूद्रों और अतिशूद्रों' की एकता की बात की और इनके साझेपन का सांस्कृतिक आधार तैयार करने के लिए विपुल लेखन किया। दक्षिण भारत में रामासामी पेरियार (1879-1973) आन्दोलन की धुरी भी बहुजन अवधारणा ही थी। बहुजन अवधारणा पर काम करने वाले इन लेखकों और समाज सुधारकों का मुख्य कार्यभार सामाजिक संकीर्णताओं और वर्चस्ववाद से मानव-जीवन को मुक्त करना और सामाजिक समता को विकसित करने वाली वैज्ञानिकता और आध्यत्मिकता का विकास करना था।

बहुजन अवधारणा के विरोध में कौन है?

बहरहाल, कौन-सी शक्तियाँ इस अवधारणा के पक्ष में हैं या हो सकती हैं, यह तो स्पष्ट ही है। लेकिन अगर हम यह ग़ौर करें कि कौन-सी शक्तियाँ इस अवधारणा से सबसे अधिक विचलित हैं, तो इसकी ताक़त का बेहतर अनुमान हो सकता है।

सांस्कृतिक और साहित्यिक स्तर पर बहुजन अवधारणा की सैद्धांतिकी के निर्माण पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से संबद्ध पत्र पाञ्चजन्य और आर्गेनाइजर ने सबसे पहले सुनियोजित रूप से हमला किया, जो निरंतर जारी है। उनका यह विरोध चलताऊ क़िस्म का नहीं है, बल्कि वे इसके विरोध में अपनी विचारधारा के आधार पर एक सैद्धांतिकी गढ़ने की कोशिश करते हैं। मसलन, बहुजन अवधारणा का उल्लेख करते हुए पाञ्चजन्य कहता है कि ये लोग 'भारतीय संविधान व राज-व्यवस्था द्वारा नागरिक-अधिकारों के संरक्षण हेतु सृजित कोटियों (यथा अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़ा वर्ग) को अपरिवर्तनीय एवं परस्पर संघर्षरत नस्ली समूहों में रूढ़' करने की कोशिश कर रहे हैं।[3] यह ग़ौर करने लायक़ है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और अन्य पिछड़ा वर्ग के अलग-अलग सामाजिक-सांस्कृतिक अस्तित्व के रूढ़ बने रहने से न सिर्फ़ सहमत हैं, बल्कि इसे अपने कथित 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' और 'हिंदुत्व' के लिए हितकर मानता है। इसके विपरीत इन तबक़ों के सांस्कृतिक और साहित्यिक साझेपन को रेखांकित किए जाने को कथित हिंदुत्व, जो कि वास्तव में द्विजवाद का मुखौटा है; के लिए विकट ख़तरे के रूप में देखता। बहुजन अवधारणा को राष्ट्रवाद के विरोध में बताने वाली ऐसी अनेक सामग्री पाञ्चजन्य और आर्गेनाइजर में प्रकाशित हुई हैं।

वस्तुतः बहुजन अवधारणा इन सामाजिक श्रेणियों को रूढ़ नहीं बनाती, बल्कि इन्हें श्रेणीक्रमों से मुक्त करती है और इस प्रकार जाति मुक्ति की ओर बढ़ती है। यह मानवीय गरिमा और मानव-स्वातंत्र्य को प्राथमिकता देने वाले सामाजिक रूप से समतामूलक सशक्त राष्ट्र के निर्माण की प्रक्रिया का हिस्सा है। यह अवधारणा कहती है कि

'सामाजिक रूप से विशेषाधिकार प्राप्त परिवारों में पैदा हुए लोग, जिन्हें हम आम बोलचाल में सवर्ण कहते हैं, उनमें भी ऐसे लोग हैं, जिनके पारिवारिक संस्कार और बौद्धिक प्रतिबद्धताएँ निरंतर धींगामुश्ती कर रही होती हैं। उन्हें साहित्य ने, समाज ने, विज्ञान ने, इतिहास ने जो जानकारियाँ और सबक़ दिये हैं, वे उन्हें बेचैन किए हैं कि कहीं वे उल्टी दिशा में तो नहीं खड़े हैं।'[4] बहुजन अवधारणा सामाजिक समानता के पक्षधर इन लोगों को भी स्वयं में समाहित करती है।

इस प्रकार, यह जड़ अस्मितावाद की अवधारणा नहीं है, बल्कि यह दुनिया आज जिन समस्याओं से जूझ रही है, उसे समझने और उनसे निजात पाने की बहुजन हिताय बौद्धिक परियोजना के रूप में विकसित हो रही है।

बहुजन साहित्य की सैद्धांतिकी

यह अवधारणा मानती है कि आर्थिक समानता की दिशा की मूल बाधा में हमारी सामाजिक-व्यवस्था है। यही कारण है कि यह अवधारणा सामाजिक और सांस्कृतिक मुद्दों को शीर्ष पर रखती है और विज्ञान और तकनीक की प्रगति की दिशा का अपनी वैचारिकी के आधार पर आलोचनात्मक मूल्यांकन पर बल देती है।

साहित्य, विशेषकर आलोचना में इस अवधारणा को सामने रखते ही भारतीय जाति-व्यवस्था के ऐसे अनेक पहलू सामने आने लगते हैं, जिनकी ओर दलित और मार्क्सवादी धाराओं के सहारे हम नहीं देख पा रहे थे। मसलन, उपरोक्त अवधाराणाओं में शिल्पकार, पशुपालक और किसान जातियों की पीड़ा और इनके अलग हितों को या तो ओझल कर दिया जाता है, या फिर इन सबको एक ही डण्डे से हाँकते हुए सामाजिक रूप से शोषक या पूँजीवाद का पिछलग्गू करार दिया जाता है। इन अवधारणाओं में अति-पिछड़े हिंदू समुदायों, पसमांदा मुसलमानों, घुमंतू जातियों, अन्य धर्मांतरित समुदायों पर अलग से नज़र डालने की ज़रूरत तक नहीं समझी जाती। आदिवासियों और स्त्रियों की अभिव्यक्तियों को अलग-थलग कर दिया जाता है।

जबकि बहुजन अवधारणा को सामने रखने पर हम इन समुदायों की पीड़ा, शोषण और साहित्यिक-अभिव्यक्तियों की समानताओं को आसानी से देख पाते हैं। जैसे-जैसे यह अवधारणा पल्लवित हो रही है, इन समुदायों की संस्कृति और उनके वैचारिक आधारों की एकता भी दिखने लगी है। इसके अतिरिक्त बहुजन अवधारणा ब्राह्मणवाद के स्थान पर अभिजनवाद को रखती है, जो सामाजिक रूप से 'द्विजवाद' के क़रीब है। इस प्रकार यह अपनी विरोधी शक्तियों और उनकी बदलती रणनीतियों को भी अधिक सघनता से चिह्नित करने और उनका विरोध करने में सक्षम हो जाती है। लेकिन, जैसा कि मैंने पहले संकेत किया, बहुजन साहित्य की अवधारणा अस्मितावादी नहीं है। यह 'बहुसंख्यकों के कल्याण' पर आधारित है, लेकिन यह 'बहुसंख्यकवाद' नहीं।

इस अवधारणा में लेखक की सामाजिक पृष्ठभूमि का अध्ययन तो जारी रहता है, लेकिन जैसा कि प्रेमकुमार मणि ने कहते हैं, इसमें 'लेखक का दृष्टिकोण क्या है, यह अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाएगा।'[5] यह 'जाति' पर नहीं, 'जन' पर केंद्रित विचारधारा है। यह 'जाति से जमात' की ओर की यात्रा नहीं है, बल्कि जातिगत भेदभाव से मुक्ति की, एक सुंदर सामाजिक जीवन और श्रमण परंपरा में मौजूद आध्यात्म के विकास की परिकल्पना है, जिसके मूल में वैज्ञानिकता का वास है।

इस अवधारणा के आरंभिक दार्शनिकों (कौत्स, बुद्ध, मक्खली गोशाल, अजित केशकंबली आदि) के दर्शन का मूल बिंदु मिथ्या विचाराधाराओं को चुनौती देना तथा बहु-जनों का कल्याण करने वाली विचारधारा का निर्माण करना रहा है। इन दार्शनिकों ने सिर्फ़ तात्कालिक समस्याओं पर ही नज़र नहीं रखी, बल्कि पूरी प्रकृति को स्वयं में समेटने वाली आध्यात्मिकता का प्रस्ताव किया। इसलिए इस अवधारणा के तहत लेखन करने वालों के लिए विज्ञान और तकनीक के विकास पर आलोचनात्मक नज़र बनाये रखना भी आवश्यक हो जाता है; क्योंकि इसका एक मुख्य कार्यभार बहुजनों के दूरगामी हित और उनकी ख़ुशी है, न कि कथित 'विकास', जिसके नाम पर विशाल कॉरपोरेशन दुनिया भर में लोकतांत्रिक देशों को बंधुआ बनाते जा रहे हैं।

बहुजन साहित्य का अर्थ है—अभिजन के विपरीत बहुजन का साहित्य और उनकी वैचारिकी। प्रगतिशील-मार्क्सवादी विचारधारा में जो 'जन' है, 'बहुजन' उसकी अगली कड़ी भी है। मार्क्सवाद के 'जन' का अर्थ भारत के सामाजिक-यथार्थ के संदर्भ में न सिर्फ़ अस्पष्ट और अनिश्चिवत बना रहता है, बल्कि वह हमारे सांस्कृतिक मंतव्यों को प्रकट नहीं करता। जब हम 'जन' में 'बहु' प्रत्यय जोड़ते हैं तो इससे बना शब्द हिंदुस्तानी परिप्रेक्ष्य में वैचारिक और दार्शनिक रूप से भी जीवंत हो उठता है। यह हमें भारत की श्रमणवादी धारा के दार्शनिकों, कौत्स, बुद्ध, मक्खली गोशाल, अजित केशकंबली आदि की वैज्ञानिक चेतना से जोड़ देता है और उनके दर्शन को समकालीन आवश्यकता के अनुरूप विकसित करने के लिए प्रेरित करता है। थोड़ा आलंकारिक भाषा का प्रयोग करते हुए कहें तो 'प्रगतिशील साहित्य में वंचित तबकों के दुखों का चित्रण तो हुआ, लेकिन वह उन दाहक दुखों के कारण के रूप में ब्राह्मणवाद को चिह्नित करने में सक्षम नहीं था। दलित साहित्य को दुख देने वाला भी दिखा, उसने उन दुखों के कारणों को गहराई से रेखांकित किया। बहुजन साहित्य की अवधारणा से दुख भी दिखता है, दुख देने वाला भी दिखता है, और दुख से मुक्ति का उपाय भी दिखता है।'[6]

'बहुजन' में बहुलता का भाव है। यह दलित साहित्य का तो विस्तार है ही, नए भाषा संकेतों का सहारा लेकर कहें तो यह जन+ (जन प्लस) भी है। जन+ के अर्थ में यह पिछले दो दशक से पश्चिम में चर्चित हो रही उत्तर-मानववाद, मानवेत्तरवाद एंथ्रोपोसीन जैसी धारणाओं को तार्किक दिशा देने में भी सक्षम है।

इस अवधारणा को केंद्र में रखकर अधिकाधिक आलोचना-कर्म करने की ज़रूरत है, ताकि इसके मूल्य और निखरकर सामने आएँ।

संदर्भ

1. 'Bahujan Sahitya Academy Meet Held'. The Hans India, 18 Dec. 2018, https://www.thehansindia.com/posts/index/Telangana/2018-12-18/Bahujan-Sahitya-Academy-meet-held/460556.
2. Bahujan Sahitya Academy. https://bahujan-sahitya-academy.business.site. Accessed 4 Sept. 2022.
3. 'छद्म ईसाई व नव वामपंथियों के गठजोड़ का अड्डा' पाञ्जजन्य, 2 नवं. 2015, https://panchjanya.com/2015/11/02/211384/archive/rdy94db05/.
4. प्रमोद रंजन. 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' बहुजन साहित्य की प्रस्तावना, द मार्जिनलाइज्ड, 2016, pp. 7–8.
5. प्रेमकुमार मणि. साहित्य में बहुजन अवधारणा. zenodo, 2022, 10.5281/zenodo.6790323.
6. प्रेमकुमार मणि. साहित्य में बहुजन अवधारणा. zenodo, 2022, 10.5281/zenodo.6790323.

संपर्क : हिंदी विभाग, असम विश्वविद्यालय, दीफू परिसर, पिन-782462
मोबाइल : 9811884495 ई-मेल : janviklp@gmail.com